.. Dnyaneshvari or Bhavarthadipika Chapter 3 ..
॥ ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका अध्याय ३ ॥

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥
अध्याय तिसरा ।
कर्मयोगः ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे माम् नियोजयसि केशव ॥ १॥

मग आइका अर्जुनें म्हणितलें। देवा तुम्हीं जें वाक्य बोलिलें। तें निकें म्यां परिसिलें। कमळापती ॥ १॥
तेथ कर्म आणि कर्ता। उरेचिना पाहतां। ऐसें मत तुझें श्रीअनंता। निश्चित जरी ॥ २॥
तरी मातें केवीं श्रीहरी। म्हणसी पार्था संग्रामु करीं। इये लाजसी ना महाघोरीं। कर्मीं सुतां ॥ ३॥
हां गा कर्म तूंचि अशेष। निराकरिसी निःशेष। तरी मजकरवीं हें हिंसक। कां करविसी ॥ ४॥
तरी हेंचि विचारीं ऋषीकेशा। तूं मानु देसी कर्मलेशा। आणि येसणी हे हिंसा। करवीतु आहासी ॥ ५॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २॥

देवा तुवांचि ऐसें बोलावें। तरी आम्हीं नेणती काय करावें। आतां संपले म्हण पां आघवें। विवेकाचें ॥ ६॥
हां गा उपदेश जरी ऐसा। तरी अपभ्रंशु तो कैसा। आतां पुरला आम्हां धिंवसा। आत्मबोधाचा ॥ ७॥
वैद्यु पथ्य वारूनि जाये। मग जरी आपणचि विष सुये। तरी रोगिया कैसनि जिये। सांगैं मज ॥ ८॥
जैसें आंधळें सुईजे आव्हांटा। कां माजवण दीजे मर्कटा। तैसा उपदेशु हा गोमटा। वोढवला आम्हां ॥ ९॥
मी आधींचि कांहीं नेणें। वरी कवळिलों मोहें येणें। श्रीकृष्णा विवेकु या कारणें। पुसिला तुज ॥ १०॥
तंव तुझी एकेक नवाई। एथ उपदेशामाजीं गोवाई। तरी अनुसरलिया काई। ऐसें कीजे ? ॥ ११॥
आम्हीं तनुमनुजीवें। तुझिया बोला वोटंगावें। आणि तुवांचि ऐसें करावें। तरी सरलें म्हण ॥ १२॥
आतां ऐसियापरी बोधिसी। तरी निकें आम्हां करिसी। एथ ज्ञानाची आस कायसी। अर्जुन म्हणे ॥ १३॥
तरी ये जाणिवेचें तरी सरलें। परी आणिक एक असे जाहलें। जें थितें हें डहुळलें। मानस माझें ॥ १४॥
तेवींचि श्रीकृष्णा हें तुझें। चरित्र कांहीं नेणिजे। जरी चित्त पाहसी माझें। येणे मिषें ॥ १५॥
ना तरी झकवीतु आहासी मातें। कीं तत्त्वचि कथिले ध्वनितें। हें अवगमितां निरुतें। जाणवेना ॥ १६॥
म्हणौनि आइकें देवा। हा भावार्थु आतां न बोलावा। मज विवेकु सांगावा। मऱ्हाटा जी ॥ १७॥
मी अत्यंत जड असें। परी ऐसाही निकें परियेसें। श्रीकृष्णा बोलावें तुवां तैसें। एकनिष्ठ ॥ १८॥
देखैं रोगातें जिणावें। औषध तरी देयावें। परी तें अति रुच्य व्हावें। मधुर जैसें ॥ १९॥
तैसें सकळार्थभरित। तत्त्व सांगावें उचित। परी बोधें माझें चित्त। जयापरी ॥ २०॥
देवा तुज ऐसा निजगुरु। आजि आर्तीधणी कां न करूं। एथ भीड कवणाची धरूं। तूं माय आमुची ॥ २१॥

हां गां कामधेनूचें दुभतें। दैवें जाहलें जरीं आपैतें। तरीं कामनेची कां तेथें। वानी कीजे ? ॥ २२॥
जरी चिंतामणी हाता चढे। तरी वांछेचें कवण सांकडें। कां आपुलेनि सुरवाडें। इच्छावें ना ? ॥ २३॥
देखा अमृतसिंधूतें ठाकावें। मग ताहाना जरी फुटावें। तरी सायासु कां करावे। मागील ते ? ॥ २४॥
तैसा जन्मांतरीं बहुतीं। उपासितां श्रीलक्ष्मीपती। तूं दैवें आजि हातीं। जाहलासी जरी ॥ २५॥
तरी आपुलिया सवेशा। कां न मागावासि परेशा ?। देवा सुकाळु हा मानसा। पाहला असे ॥ २६॥
देखैं सकळार्तीचें जियाले। आजि पुण्य यशासि आलें। हें मनोरथ जहाले। विजयी माझे ॥ २७॥
जी जी परममंगळधामा। सकळ देवदेवोत्तमा। तूं स्वाधीन आजि आम्हां। म्हणौनियां ॥ २८॥
जैसें मातेच्या ठायीं। अपत्या अनवसरू नाहीं। स्तन्यालागूनि पाहीं। जियापरी ॥ २९॥
तैसें देवा तूतें। पुसिजतसे आवडे तें। आपुलेनि आर्तें। कृपानिधीं ॥ ३०॥
तरीं पारत्रिकीं हित। आणि आचरितां तरी उचित। तें सांगैं एक निश्चित। पार्थु म्हणे ॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच ।
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३॥

या बोला श्रीअच्युतु। म्हणतसे विस्मितु। अर्जुना हा ध्वनितु। अभिप्रावो ॥ ३२॥
जे बुद्धियोगु सांगतां। सांख्यमतसंस्था। प्रकटिली स्वभावता। प्रसंगें आम्हीं ॥ ३३॥
तो उद्देशु तूं नेणसीचि। म्हणौनि क्षोभलासि वायांचि। तरी आतां जाणें म्यांचि। उक्त दोन्ही ॥ ३४॥
अवधारीं वीरश्रेष्ठा। ये लोकीं या दोन्ही निष्ठा। मजचिपासूनि प्रगटा। अनादिसिद्धा ॥ ३५॥
एकु ज्ञानयोगु म्हणिजे। जो सांख्यीं अनुष्ठिजे। जेथ ओळखीसवें पाविजें। तद्रूपता ॥ ३६॥
एक कर्मयोगु जाण। जेथ साधकजन निपुण। होऊनियां निर्वाण। पावती वेळे ॥ ३७॥
हे मार्गु तरी दोनी। परी एकवटतीं निदानीं। जैसी सिद्धसाध्य भोजनीं। तृप्ती एक ॥ ३८॥
कां पूर्वापर सरितां। भिन्न दिसती पाहतां। मग सिंधुमिळणीं ऐक्यता। पावती शेखीं ॥ ३९॥
तैसीं दोनीही मतें। सूचितीं एका कारणातें। परी उपास्ति ते योग्यते-। आधीन असे ॥ ४०॥
देखैं उत्प्लवनासरिसां। पक्षी फळासि झोंबे जैसा। सांगैं नरु केवीं तैसा। पावे वेगा ? ॥ ४१॥
तो हळूहळू ढाळेंढाळें। केउतेनि एके वेळे। तया मार्गाचेनि बळें। निश्चित ठाकी ॥ ४२॥
तैसे देख पां विहंगममतें। अधिष्ठूनि ज्ञानातें। सांख्य सद्य मोक्षातें। आकळिती ॥ ४३॥
येर योगिये कर्माधारें। विहितेंचि निजाचारें। पूर्णता अवसरें। पावते होती ॥ ४४॥

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४॥

वांचोनि कर्मारंभ उचित। न करितां सिद्धवत। कर्महीना निश्चित। होईजेना ॥ ४५॥
कीं प्राप्तकर्म सांडिजे। येतुलेनि नैष्कर्म्य होईजे। हें अर्जुना वायां बोलिजे। मूर्खपणें ॥ ४६॥
सांगैं पैलतीरा जावें। ऐसें व्यसन कां जेथ पावे। तेथ नावेतें त्यजावें। घडे केवीं ? ॥ ४७॥
ना तरी तृप्ति इच्छिजे। तरी कैसेनि पाकु न कीजे। कीं सिद्धही न सेविजे। केवीं सांगैं ? ॥ ४८॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

जंव निरार्तता नाहीं। तंव व्यापारु असे पाहीं। मग संतुष्टीच्या ठायीं। कुंठें सहजें ॥ ४९ ॥
म्हणौनि आईकें पार्था। जयां नैष्कर्म्यपदीं आस्था। तया उचित कर्म सर्वथा। त्याज्य नोहे ॥ ५० ॥
आणि आपुलिये चाडे। आपादिलें हें मांडे। कीं त्यजिलें कर्म सांडे। ऐसें आहे ? ॥ ५१ ॥
हें वायांचि सैरा बोलिजे। उकलु तरी देखोनि पाहिजे। परी त्यजिता कर्म न त्यजे। निभ्रांत मानीं ॥ ५२ ॥
जंव प्रकृतीचें अधिष्ठान। तंव सांडी मांडी हें अज्ञान। जे चेष्टा ते गुणाधीन। आपैसी असे ॥ ५३ ॥
देखैं विहित कर्म जेतुलें। तें सळें जरी वोसंडिलें। तरी स्वभाव काय निमाले। इंद्रियांचे ॥ ५४ ॥
सांगै श्रवणीं ऐकावें ठेलें ?। कीं नेत्रींचें तेज गेलें ?। हें नासारंध्र बुझालें। परिमळु नेघे ? ॥ ५५ ॥
ना तरी प्राणापानगति। कीं निर्विकल्प जाहली मती। कीं क्षुधातृषादि आर्ति। खुंटलिया ॥ ५६ ॥
हे स्वप्नावबोधु ठेले। कीं चरण चालों विसरले। हें असो काय निमाले। जन्ममृत्यु ? ॥ ५७ ॥
हें न ठकेचि जरी कांहीं। तरी सांडिलें तें कायी। म्हणौनि कर्मत्यागु नाहीं। प्रकृतिमंता ॥ ५८ ॥
कर्म पराधीनपणें। निपजतसे प्रकृतिगुणें। येरी धरीं मोकलीं अंतःकरणें। वाहिजे वायां ॥ ५९ ॥
देखैं रथीं आरूढिजे। मग जरी निश्चळा बैसिजे। तरी चळु होऊनि हिंडिजे। परतंत्रा ॥ ६० ॥
कां उचलिलें वायुवशें। चळे शुष्क पत्र जैसें। निचेष्ट आकाशें। परिभ्रमें ॥ ६१ ॥
तैसें प्रकृतिआधारें। कर्मेंद्रियविकारें। नैष्कर्म्यही व्यापारे। निरंतर ॥ ६२ ॥
म्हणौनि संगू जंव प्रकृतीचा। तंव त्यागु न घडे कर्माचा। ऐसियाहि करूं म्हणती तयांचा। आग्रहोचि उरे ॥ ६३ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जे उचित कर्म सांडिती। मग नैष्कर्म्य होऊं पाहती। परी कर्मेंद्रियप्रवृत्ती। निरोधुनी ॥ ६४ ॥
तयां कर्मत्यागु न घडे। जें कर्तव्य मनीं सांपडे। वरी नटती तें फुडें। दरिद्र जाण ॥ ६५ ॥
ऐसे ते पार्था। विषयासक्त सर्वथा। ओळखावे तत्त्वता। भ्रांति नाहीं ॥ ६६ ॥
आतां देई अवधान। प्रसंगें तुज सांगेन। या नैराश्याचें चिन्ह। धनुर्धरा ॥ ६७ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।
कर्मैन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

जो अंतरीं दृढ। परमात्मरूपीं गूढ। बाह्य भागु तरी रूढ। लौकिकु जैसा ॥ ६८ ॥
तो इंद्रियां आज्ञा न करी। विषयांचें भय न धरी। प्राप्त कर्म नाव्हेरी। उचित जें जें ॥ ६९ ॥
तो कर्मेंद्रियें कर्मीं। राहटतां तरी न नियमी। परी तेथिचेनि उर्मीं। झांकोळेना ॥ ७० ॥
तो कामनामात्रें न घेपे। मोहमळें न लिंपे। जैसें जळीं जळें न शिंपे। पद्मपत्र ॥ ७१ ॥
तैसा संसर्गामाजीं असे। सकळांसारिखा दिसे। जैसें तोयसंगें आभासे। भानुबिंब ॥ ७२ ॥

तैसा सामान्यत्वें पाहिजे। तरी साधारणुचि देखिजे। येरवीं निर्धारितां नेणिजे। सोय जयाची ॥ ७३॥
ऐशा चिन्हीं चिन्हितु। देखसी तोचि मुक्तु। आशापाशरहितु। वोळख पां ॥ ७४॥
अर्जुना तोचि योगी। विशेषिजे जो जगीं। म्हणौनि ऐसा होय यालागीं। म्हणिपे तूतें ॥ ७५॥
तूं मानसा नियमु करीं। निश्चळु होय अंतरीं। मग कर्मेंद्रियें व्यापारीं। वर्ततु सुखें ॥ ७६॥

नियतं कुरु कर्म त्वं ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८॥

म्हणौनी नैष्कर्म्य होआवें। तरी एथ तें न संभवे। आणि निषिद्ध केवीं राहाटावें। विचारीं पां ॥ ७७॥
म्हणौनि जें जें उचित। आणि अवसरेंकरूनि प्राप्त। तें कर्म हेतुरहित। आचरें तूं ॥ ७८॥
पार्था आणीकही एक। नेणसी तूं हें कवतिक। जें ऐसें कर्ममोचक। आपैसें असे ॥ ७९॥
देखैं अनुक्रमाधारें। स्वधर्मु जो आचरे। तो मोक्षु तेणें व्यापारें। निश्चित पावे ॥ ८०॥

यज्ञाथात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार ॥ ९॥

स्वर्धमु जो बापा। तोचि नित्ययज्ञु जाण पां। म्हणौनि वर्ततां तेथ पापा। संचारु नाहीं ॥ ८१॥
हा निजधर्मु जैं सांडे। आणि कुकर्मीं रति घडे। तैंचि बंधु पडे। संसारिक ॥ ८२॥
म्हणौनि स्वधर्मानुष्ठान। तें अखंड यज्ञ याजन। जो करी तया बंधन। कहींच न घडे ॥ ८३॥
हा लोकु कर्मैं बांधिला। जो परतंत्रा भूत झाला। तो नित्य यज्ञातें चुकला। म्हणौनियां ॥ ८४॥
आतां येचिविशीं पार्था। तुज सांगेन एक मी कथा। जैं सृष्ट्यादि संस्था। ब्रह्मेनें केली ॥ ८५॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १०॥

तैं नित्ययागसहितें। सृजिलीं भूतें समस्तें। परी नेणतीचि तियें यज्ञातें। सूक्ष्म म्हणौनि ॥ ८६॥
ते वेळीं प्रजीं विनविला ब्रह्मा। देवा काय आश्रयो एथ आम्हां। तंव म्हणे तो कमळजन्मा। भूतांप्रति ॥ ८७॥
तुम्हां वर्णविशेषवशें। आम्हीं हा स्वधर्मुचि विहिला असे। यातें उपासा मग आपैसे। पुरती काम ॥ ८८॥
तुम्हीं व्रतें नियमु न करावे। शरीरातें न पीडावें। दुरी केंही न वचावें। तीर्थासी गा ॥ ८९॥
योगादिकें साधनें। साकांक्ष आराधनें। मंत्रयंत्रविधानें। झणीं करा ॥ ९०॥
देवतांतरा न भजावें। हें सर्वथा कांहीं न करावें। तुम्हीं स्वधर्मयज्ञीं यजावें। अनायासें ॥ ९१॥
अहेतुकें चित्तें। अनुष्ठा पां ययातें। पतिव्रता पतीतें। जियापरी ॥ ९२॥
तैसा स्वधर्मरूपमखु। हाचि सेव्यु तुम्हां एकु। ऐसें सत्यलोकनायकु। बोलता जाहला ॥ ९३॥
देखा स्वधर्मातें भजाल। तरी कामधेनु हा होईल। मग प्रजाहो न संडील। तुमतें कदा ॥ ९४॥

देवांभावयताऽनेन ते देवाभावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परममवाप्स्यथ ॥११॥

जैं येणेंकरूनि समस्तां। परितोषु होईल देवतां। मग ते तुम्हां ईप्सिता। अर्थातें देती ॥९५॥
या स्वधर्मपूजा पूजितां। देवतागणां समस्तां। योगक्षेमु निश्चिता। करिती तुमचा ॥९६॥
तुम्हीं देवांतें भजाल। देव तुम्हां तुष्टतील। ऐसी परस्परें घडेल। प्रीति जेथ ॥९७॥
तेथ तुम्हीं जें करूं म्हणाल। तें आपैसें सिद्धि जाईल। वांछितही पुरेल। मानसींचें ॥९८॥
वाचासिद्धि पावाल। आज्ञापक होआल। म्हणियें तुमतें मागतील। महाऋद्धि ॥९९॥
जैसें ऋतुपतीचें द्वार। वनश्री निरंतर। वोळगे फळभार। लावण्येसी ॥१००॥

इष्टांभोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

तैसें सर्व सुखेंसहित। दैवचि मूर्तिमंत। येईल देखा काढत। तुम्हांपाठीं ॥१०१॥
ऐसें समस्त भोगभरित। होआल तुम्ही अनार्त। जरी स्वधर्मेंनिरत। वर्ताल बापा ॥१०२॥
कां जालिया सकळ संपदा। जो अनुसरेल इंद्रियमदा। लुब्ध होऊनियां स्वादा। विषयांचिया ॥१०३॥
तिहीं यज्ञभाविकीं सुरीं। जे हे संपत्ति दिधली पुरी। तयां स्वधर्मीं सर्वेश्वरीं। न भजेल जो ॥१०४॥
अग्निमुखीं हवन। न करील देवता पूजन। प्राप्तवेळे भोजन। ब्राह्मणाचें ॥१०५॥
विमुख होईल गुरुभक्ती। आदर न करील अतिथी। संतोष नेदील ज्ञाती। आपुलिये ॥१०६॥
ऐसा स्वधर्मक्रियारहितु। आथिलेपणें प्रमत्तु। केवळ भोगासक्तु। होईल जो ॥१०७॥
तया मग अपावो थोर आहे। जेणें तें हातींचें सकळ जाये। देखा प्राप्तही न लाहे। भोग भोगूं ॥१०८॥
जैसें गतायुषी शरीरीं। चैतन्य वासु न करी। कां निदैवाच्या घरीं। न राहे लक्ष्मी ॥१०९॥
तैसा स्वधर्मु जरी लोपला। तरी सर्व सुखांचा थारा मोडला। जैसा दीपासवें हरपला। प्रकाशु जाय ॥११०॥
तैसी निजवृत्ति जेथ सांडे। तेथ स्वतंत्रते वस्ती न घडे। आइका प्रजाहो हे फुडें। विरंचि म्हणे ॥१११॥
म्हणौनि स्वधर्मु जो सांडील। तयातें काळु दंडील। चोरु म्हणौनि हरील। सर्वस्व तयाचें ॥११२॥
मग सकळ दोषु भंवते। गिंवसोनि घेति तयातें। रात्रिसमयीं स्मशानातें। भूतें जैसीं ॥११३॥
तैसीं त्रिभुवनींचीं दुःखें। आणि नानाविधें पातकें। दैन्यजात तितुकें। तेथेंचि वसे ॥११४॥
ऐसें होय तया उन्मत्ता। मग न सुटे बापा रुदतां। कल्पांतींही सर्वथा। प्राणिगणहो ॥११५॥
म्हणौनि निजवृत्ती हे न संडावी। इंद्रियें बरळों नेदावीं। ऐसें प्रजांतें शिकवी। चतुराननु ॥११६॥
जैसे जळचरा जळ सांडे। आणि तत्क्षणीं मरण मांडे। हा स्वधर्मु तेणें पाडें। विसंबों नये ॥११७॥
म्हणौनि तुम्हीं समस्तीं। आपुलालिया कर्मीं उचितीं। निरत व्हावें पुढत पुढती। म्हणिपत असे ॥११८॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

देखा विहित क्रियाविधि। निर्हेतुका बुद्धि। जो असतिये समृद्धि। विनियोगु करी ॥११९॥
गुरु गोत्र अग्नि पूजी। अवसरीं भजे द्विजीं। निमित्तादिकीं यजीं। पितरोद्देशें ॥१२०॥

या यज्ञक्रिया उचिता। यज्ञेशीं हवन करितां। हुतशेष स्वभावतः। उरे जें जें ॥१२१॥
तें सुखें आपुले घरीं। कुटुंबेंसी भोजन करी। कीं भोग्यचि तें निवारी। कल्मषातें ॥१२२॥
तें यज्ञावशिष्ट भोगी। म्हणौनि सांडिजे तो अघीं। जयापरीं महारोगी। अमृतसिद्धि ॥१२३॥
कीं तत्त्वनिष्ठु जैसा। नागवे भ्रांतिलेशा। तो शेषभोगी तैसा। नाकळे दोषा ॥१२४॥
म्हणौनि स्वधर्में जें अर्जे। तें स्वधर्मेंचि विनियोगिजे। मग उरे तें भोगिजे। संतोषेंसीं ॥१२५॥
हें वांचूनि पार्था। राहाटों नये अन्यथा। ऐसी आद्य हे कथा। श्रीमुरारी सांगे ॥१२६॥
जे देहचि आपणपें मानिती। आणि विषयांतें भोग्य म्हणती। यापरतें न स्मरती। आणिक कांहीं ॥१२७॥
हें यज्ञोपकरण सकळ। नेणतसां ते बरळ। अहंबुद्धि केवळ। भोगूं पाहती ॥१२८॥
इंद्रियरुचीसारिखें। करविती पाक निके। ते पापिये पातकें। सेविती जाण ॥१२९॥
संपत्तिजात आघवें। हें हवनद्रव्य मानावें। मग स्वधर्मयज्ञें अर्पावें। आदिपुरुषीं ॥१३०॥
हें सांडोनियां मूर्ख। आपणपेंयालागीं देख। निपजविती पाक। नानाविध ॥१३१॥
जिहीं यज्ञु सिद्धी जाये। परेशा तोषु होये। तें हें सामान्य अन्न न होये। म्हणौनियां ॥१३२॥
हें न म्हणावें साधारण। अन्न ब्रह्मरूप जाण। जें जीवनहेतु कारण। विश्वा यया ॥१३३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवं ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अन्नास्तव भूतें। प्ररोहो पावती समस्तें। मग पर्जन्यु या अन्नातें। सर्वत्र प्रसवे ॥१३४॥
तया पर्जन्या यज्ञीं जन्म। यज्ञातें प्रगटी कर्म। कर्मासि आदि ब्रह्म। वेदरूप ॥१३५॥
मग वेदांतें परात्पर। प्रसवतसे अक्षर। म्हणौनि हे चराचर। ब्रह्मबद्ध ॥१३६॥
परी कर्माचिये मूर्ति। यज्ञीं अधिवासु श्रुति। ऐकें सुभद्रापति। अखंड गा ॥१३७॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

ऐशी हे आदि परंपरा। संक्षेपें तुज धनुर्धरा। सांगितली या अध्वरा। लागूनियां ॥१३८॥
म्हणौनि समूळ हा उचितु। स्वधर्मरूप क्रतु। नानुष्ठी जो मत्तु। लोकीं इये ॥१३९॥
तो पातकांची राशी। जाण भार भूमीसी। जो कुकर्में इंद्रियांसी। उपेगा गेला ॥१४०॥
तें जन्म कर्म सकळ। अर्जुना अति निष्फळ। जैसें कां अभ्रपटल। अकाळींचें ॥१४१॥
कां गळां स्तन अजेचे। तैसें जियालें देखैं तयाचें। जया अनुष्ठान स्वधर्माचें। घडेचिना ॥१४२॥
म्हणौनि ऐकें पांडवा। हा स्वधर्मु कवणें न संडावा। सर्वभावें भजावा। हाचि एकु ॥१४३॥
हां गा शरीर जरी जाहलें। तरी कर्तव्य वोघें आलें। मग उचित कां आपुलें। ओसंडावें ? ॥१४४॥
परिस पां सव्यसाची। मूर्ति लाहोनि देहाची। खंती करिती कर्माची। ते गांवढे गा ॥१४५॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७॥

देखैं असतेनि देहधर्मैं। एथ तोचि एकु न लिंपे कर्मैं। जो अखंडित रमे। आपणपांचि ॥ १४६॥
जे तो आत्मबोधें तोषला। तरी कृतकार्यु देखैं जाहला। म्हणौनि सहजें सांडवला। कर्मसंगु ॥ १४७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदार्थव्यपाश्रयः ॥ १८॥

तृप्ति जालिया जैसीं। साधनें सरती आपैसीं। देखैं आत्मतुष्टीं तैसीं। कर्मैं नाहीं ॥ १४८॥
जंववरी अर्जुना। तो बोधु भेटेना मना। तंवचि यया साधना। भजावें लागे ॥ १४९॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९॥

म्हणौनि तूं नियतु। सकळ कामरहितु। होऊनियां उचितु। स्वधर्मैं रहाटें ॥ १५०॥
जे स्वधर्मैं निष्कामता। अनुसरले पार्था। ते कैवल्यपद तत्त्वतां। पातले जगीं ॥ १५१॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसङ्ग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २०॥

देख पां जनकादिक। कर्मजात अशेख। न सांडितां मोक्षसुख। पावते जाहले ॥ १५२॥
याकारणें पार्था। होआवी कर्मीं आस्था। हे आणिकाहि एका अर्था। उपकारैल ॥ १५३॥
जे आचरतां आपणपयां। देखी लागेल लोका यया। तरी चुकेल अपाया। प्रसंगेंचि ॥ १५४॥
देखैं प्राप्तार्थ जाहले। जे निष्कामता पावले। तयाही कर्तव्य असे उरलें। लोकांलागीं ॥ १५५॥
मार्गीं अंधासरिसा। पुढें देखणाही चाले जैसा। अज्ञाना प्रकटावा धर्मु तैसा। आचरोनी ॥ १५६॥
हां गा ऐसें जरी न कीजे। तरी अज्ञाना काय उमजे ?। तिहीं कवणे परी जाणिजे। मार्गातें या ? ॥ १५७॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१॥

एथ वडील जें जें करिती। तया नाम धर्मु ठेविती। तेंचि येर अनुष्ठिती। सामान्य सकळ ॥ १५८॥
हें ऐसें असे स्वभावें। म्हणौनि कर्म न संडावें। विशेषें आचरावें। लागे संतीं ॥ १५९॥

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२॥

आतां आणिकांचिया गोठी। कायशा सांगों किरीटी। देखैं मीच इये राहाटी। वर्तत असें ॥ १६०॥
काय सांकडें कांहीं मातें। कीं कवणें एकें आर्तें। आचरें मी धर्मातें। म्हणसी जरी ॥ १६१॥
तरी पुरतेपणालागीं। आणिकु दुसरा नाहीं जगीं। ऐसी सामुग्री माझ्या अंगीं। जाणसी तूं ॥ १६२॥
मृत गुरुपुत्र आणिला। तो तुवां पवाडा देखिला। तोही मी उगला। कर्मीं वर्तें ॥ १६३॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वत्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३॥

परी स्वधर्मीं वर्तें कैसा। साकांक्षु कां होय जैसा। तयाचि एका उद्देशा-। लागोनियां ॥ १६४॥
जे भूतजात सकळ। असे आम्हांचि आधीन केवळ। तरी न व्हावें बरळ। म्हणौनियां ॥ १६५॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४॥

आम्ही पूर्णकाम होउनी। जरी आत्मस्थिति राहुनी। तरी प्रजा हे कैसेनि। निस्तरेल ? ॥ १६६॥
इहीं आमुची वास पाहावी। मग वर्ततीपरी जाणावी। ते लोकस्थिति आघवी। नासिली होईल ॥ १६७॥
म्हणौनि समर्थु जो येथें। आथिला सर्वज्ञते। तेणें सविशेषें कर्मातें। त्यजावें ना ॥ १६८॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ २५॥

देखैं फळाचिया आशा। आचरे कामकु जैसा। कर्मीं भरु होआवा तैसा। निराशाही ॥ १६९॥
जे पुढतपुढतीं पार्था। हे सकळ लोकसंस्था। रक्षणीय सर्वथा। म्हणौनियां ॥ १७०॥
मार्गाधारें वर्तावें। विश्व हें मोहरें लावावें। अलौकिक नोहावें। लोकांप्रति ॥ १७१॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६॥

जें सायासें स्तन्य सेवी। तें पक्वान्नें केवीं जेवी। म्हणौनि बाळका जैशीं नेदावीं। धनुर्धरा ॥ १७२॥
तैशी कर्मीं जयां अयोग्यता। तयांप्रति नैष्कर्म्यता। न प्रगटावी खेळतां। आदिकरुनी ॥ १७३॥
तेथें सत्क्रियाचि लावावी। तेचि एकी प्रशंसावी। नैष्कर्मींही दावावी। आचरोनी ॥ १७४॥
तया लोकसंग्रहालागीं। वर्ततां कर्मसंगीं। तो कर्मबंधु आंगीं। वाजैल ना ॥ १७५॥
जैसी बहुरुपियांचीं रावो राणी। स्त्रीपुरुषभावो नाहीं मनीं। परी लोकसंपादणी। तैशीच करिती ॥ १७६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७॥

देखैं पुढिलाचें वोझें। जरी आपुला माथां घेईजे। तरी सांगैं कां न दटिजे। धनुर्धरा ? ॥ १७७॥
तैसीं शुभाशुभें कर्मैं। जियें निपजती प्रकृतिधर्मैं। तियें मूर्ख मतिभ्रमें। मी कर्ता म्हणे ॥ १७८॥
ऐसा अहंकारादिरूढ। एकदेशी मूढ। तया हा परमार्थ गूढ। प्रगटावा ना ॥ १७९॥
हें असो प्रस्तुत। सांगिजैल तुज हित। तें अर्जुना देऊनि चित्त। अवधारीं पां ॥ १८०॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८॥

जें तत्त्वज्ञानियांच्या ठायीं। प्रकृतिभावो नाहीं। जेथ कर्मजात पाहीं। निपजत असे ॥ १८१॥
ते देहाभिमानु सांडुनी। गुणकर्मैं वोलांडुनि। साक्षीभूत होउनी। वर्तती देहीं ॥ १८२॥
म्हणौनि शरीरी जरी होती। तरी कर्मबंधा नातळती। जैसा कां भूतचेष्टा गभस्ती। घेपवेना ॥ १८३॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दांकृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९॥

एथ कर्मीं तोचि लिंपे। जो गुणसंभ्रमें घेपे। प्रकृतीचेनि आटोपे। वर्ततु असे ॥ १८४॥
इंद्रियें गुणाधारें। राहाटती निजव्यापारें। तें परकर्म बलात्कारें। आपादी जो ॥ १८५॥

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३०॥

तरी उचितें कर्मैं आघवीं। तुवां आचरोनि मज अर्पावीं। परी चित्तवृत्ति न्यासावी। आत्मरूपीं ॥ १८६॥
आणि हें कर्म मी कर्ता। कां आचरैन या अर्था। ऐसा अभिमानु झणें चित्ता। रिगों देसीं ॥ १८७॥
तुवां शरीरपरा नोहावें। कामनाजात सांडावें। मग अवसरोचित भोगावे। भोग सकळ ॥ १८८॥
आतां कोदंड घेऊनि हातीं। आरूढ पां इयें रथीं। देई आलिंगन वीरवृत्ती। समाधानें ॥ १८९॥
जगीं कीर्ति रूढवीं। स्वधर्माचा मानु वाढवीं। इया भारापासोनि सोडवीं। मेदिनी हे ॥ १९०॥
आतां पार्था निःशंकु होईं। या संग्रामा चित्त देईं। एथ हें वांचूनि कांहीं। बोलों नये ॥ १९१॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१॥

हें अनुपरोध मत माझें। जिहीं परमादरें स्वीकारिजे। श्रद्धापूर्वक अनुष्ठिजे। धनुर्धरा ॥ १९२॥
तेही सकळ कर्मीं वर्ततु। जाण पां कर्मरहितु। म्हणौनि हें निश्चितु। करणीय गा ॥ १९३॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२॥

नातरी प्रकृतिमंतु होउनी। इंद्रियां लळा देउनी। जें हें माझें मत अव्हेरुनी। ओसंडिती ॥ १९४॥
जे सामान्यत्वें लेखिती। अवज्ञा करूनि देखती। कां हा अर्थवादु म्हणती। वाचाळपणें ॥ १९५॥
ते मोहमदिरा भुलले। विषयविखें घारले। अज्ञानपंकीं बुडाले। निभ्रांत मानीं ॥ १९६॥
देखैं शवाच्या हातीं दिधलें। जैसें रत्न कां वायां गेलें। नातरी जात्यंधा पाहलें। प्रमाण नोहे ॥ १९७॥
कां चंद्राचा उदयो जैसा। उपयोगा न वचे वायसा। मूर्खा विवेकु हा तैसा। रुचेल ना ॥ १९८॥
तैसे जे पार्था। विमुख या परमार्था। तयांसी संभाषण सर्वथा। करावेना ॥ १९९॥
म्हणौनि ते न मानिती। आणि निंदाही करूं लागती। सांगैं पतंगु काय साहती। प्रकाशातें ? ॥ २००॥
पतंगा दीपीं आलिंगन। तेथ त्यासी अचुक मरण। तेंवीं विषयाचरण। आत्मघाता ॥ २०१॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३॥

म्हणौनि इंद्रियें एकें। जाणतेनि पुरुखें। लाळावीं ना कौतुकें। आदिकरुनी ॥ २०२॥
हां गा सर्पेसीं खेळों येईल ?। कीं व्याघ्रसंसर्ग सिद्धि जाईल ?। सांगैं हाळाहाळ जिरेल। सेविलिया काई ? ॥ २०३॥
देखैं खेळतां अग्नि लागला। मग तो न सांवरे जैसा उधवला। तैसा इंद्रियां लळा दिधला। भला नोहे ॥ २०४॥
एऱ्हवीं तरी अर्जुना। या शरीरा पराधीना। कां नाना भोगरचना। मेळवावी ? ॥ २०५॥
आपण सायासेंकरुनि बहुतें। सकळहि समृद्धिजातें। उदोअस्तु या देहातें। प्रतिपाळावें कां ? ॥ २०६॥
सर्वस्वें शिणोनि एथें। अर्जवावीं संपत्तिजातें। तेणें स्वधर्मु सांडुनि देहातें। पोखावें काई ॥ २०७॥
मग हे तंव पांचमेळावा। शेखीं अनुसरेल पंचत्वा। ते वेळीं केला कें गिंवसावा। शीणु आपुला ॥ २०८॥
म्हणौनि केवळ देहभरण। ते जाणें उघडी नागवण। यालागीं एथ अंतःकरण। देयावेंना ॥ २०९॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४॥

एऱ्हवीं इंद्रियांचिया अर्था। सारिखा विषो पोखितां। संतोषु कीर चित्ता। आपजेल ॥ २१०॥
परी तो संवचोराचा सांगातु। जैसा नावेक स्वस्थु। जंव नगराचा प्रांतु। सांडिजेना ॥ २११॥
बापा विषाची मधुरता। झणें आवडी उपजे चित्ता। परी तो परिणामु विचारितां। प्राणु हरी ॥ २१२॥
देखैं इंद्रियीं कामु असे। तो लावी सुखदुराशे। जैसा गळीं मीनु आमिषें। भुलविजे गा ॥ २१३॥
परी तयामाजीं गळु आहे। जो प्राणातें घेऊनि जाये। तोओ जैसा ठाउवा नोहे। झांकलेपणें ॥ २१४॥
तैसें अभिलाषें येणें कीजेल। विषयांची आशा धरिजेल। तरी वरपडा होईजेल। क्रोधानळा ॥ २१५॥
जैसा कवळोनियां पारधी। घातेचिये संधी। आणी मृगातें बुद्धि। साधावया ॥ २१६॥
एथ तैसीची परी आहे। म्हणौनि संगु हा तुज नोहे। पार्था दोन्ही कामक्रोध हे। घातुक जाणें ॥ २१७॥

म्हणौनि हा आश्रोचि न करावा। मनेंहि आठवो न धरावा। एकु निजवृत्तीचा वोलावा। नासों नेदी ॥ २१८॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अगा स्वधर्मु हा आपुला। जरी कां कठिणु जाहला। तरी हाचि अनुष्ठिला। भला देखैं ॥ २१९ ॥
येरु आचारु जो परावा। तो देखतां कीर बरवा। परी आचरतेनि आचरावा। आपुलाचि ॥ २२०॥
सांन्नें शूद्र घरीं आघवीं। पक्वान्नें आहाति बरवीं। तीं द्वीजें केंवीं सेवावीं। दुर्बळु जरी जाहला ॥ २२१॥
हें अनुचित कैसेनि कीजे। अग्राह्य केवीं इच्छिजे। अथवा इच्छिलेंही पाविजे। विचारीं पां ॥ २२२॥
तरी लोकांचीं धवळारें। देखोनियां मनोहरें। असतीं आपुलीं तणारें। मोडावीं केवीं ? ॥ २२३॥
हें असो वनिता आपुली। कुरूप जरी जाहली। तऱ्ही भोगितां तेचि भली। जियापरी ॥ २२४॥
तेवीं आवडे तैसा सांकडु। आचरतां जरी दुवाडु। तऱ्ही स्वधर्मुचि सुरवाडु। परत्रींचा ॥ २२५ ॥
हां गा साकर आणि दूध। हें गौल्य कीर प्रसिद्ध। परी कृमिदोषीं विरुद्ध। घेपे केवीं ? ॥ २२६ ॥
ऐसेनिही जरी सेविजेल। तरी ते अळुकीची उरेल। जे तें परिणामीं पथ्य नव्हेल। धनुर्धरा ॥ २२७॥
म्हणौनि आणिकांसी जें विहित। आणि आपणपेयां अनुचित। तें नाचरावें जरी हित। विचारिजे ॥ २२८॥
या स्वधर्मातें अनुष्ठितां। वेचु होईल जिविता। तोहि निका वर उभयतां। दिसत असे ॥ २२९ ॥
ऐसें समस्तसुरशिरोमणी। बोलिले जेथ शारङ्गपाणी। तेथ अर्जुन म्हणे विनवणी। असे देवा ॥ २३०॥
हें जें तुम्हीं सांगितलें। तें सकळ कीर म्यां परिसिलें। परी आतां पुसेन कांहीं आपुलें। अपेक्षित ॥ २३१॥

अर्जुन उवाच ।
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

तरी देवा हें ऐसें कैसें। जे ज्ञानियांही स्थिति भ्रंशे। मार्गु सांडुनी अनारिसे। चालत देखों ॥ २३२॥
सर्वज्ञुही जे होतीं। हेयोपादेयही जाणती। तेही परधर्मैं व्यभिचरिति। कवणें गुणें ? ॥ २३३॥
बीजा आणि भूसा। अंधु निवाडू नेणें जैसा। नावेक देखणाही तैसा। बरळे कां पां ? ॥ २३४॥
जे असता संगु सांडिती। तेचि संसर्गु करितां न धाती। वनवासीही सेविती। जनपदातें ॥ २३५ ॥
आपण तरी लपती। सर्वस्वें पाप चुकविती। परी बळात्कारें सुइजती। तयाचि माजीं ॥ २३६॥
जयाची जीवें घेती विवसी। तेचि जडोनि ठाके जीवेंसीं। चुकवितां ते गिंवसी। तयातेंचि ॥ २३७॥
ऐसा बलात्कारु एकु दिसे। तो कवणाचा एथ आग्रहो असे। हें बोलावें हृषीकेशें। पार्थु म्हणे ॥ २३८॥

श्रीभगवानुवाच ।
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७॥

तंव हृदयकमळआरामु। जो योगियांचा निष्कामकामु। तो म्हणतसे पुरुषोत्तमु। सांगेन आइक ॥ २३९ ॥

तरी हे काम क्रोधु पाहीं। जयांतें कृपेची सांठवण नाहीं। हें कृतांताच्या ठायीं। मानिजती ॥ २४०॥
हे ज्ञाननिधीचे भुजंग। विषयदरीचे वाघ। भजनमार्गींचे मांग। मारक जे ॥ २४१॥
हे देहदुर्गींचे धोंड। इंद्रियग्रामींचें कोंड। यांचें व्यामोहादिक दबड। जगावरी ॥ २४२॥
हे रजोगुण मानसींचे। समूळ आसुरियेचे। धालेपण ययांचें। अविद्या केलें ॥ २४३॥
हे रजाचे कीर जाहले। परी तमासी पढियंते भले। तेणें निजपद यां दिधलें। प्रमादमोहो ॥ २४४॥
हे मृत्युच्या नगरीं। मानिजती निकियापरि। जे जीविताचे वैरी। म्हणौनियां ॥ २४५॥
जयांसि भुकेलिया आमिषा। हें विश्व न पुरेचि घांसा। कुळवाडियांचिया आशा। चाळीत असे ॥ २४६॥
कौतुकें कवळितां मुठीं। जिये चवदा भुवनें थेंकुटी। तिये भ्रांतिही धाकुटी। वाल्हीदुल्ही ॥ २४७॥
जे लोकत्रयाचें भातुकें। खेळतांचि खाय कवतिकें। तिच्या दासीपणाचेनि बिकें। तृष्णा जिये ॥ २४८॥
हें असो मोहें मानिजे। यांतें अहंकारें घेपे दीजे। जेणें जग आपुलेनि भोजें। नाचवीत असे ॥ २४९॥
जेणें सत्याचा भोकसा काढिला। मग अकृत्य तृणकुटा भरिला। तो दंभु रूढविला। जगीं इहीं ॥ २५०॥
साध्वी शांती नागविली। मग माया मांगी श्रृंगारिली। तियेकरवीं विटाळविलीं। साधुवृंदें ॥ २५१॥
इहीं विवेकाची त्र्याय फेडिली। वैराग्याचि खाल काढिली। जितया मान मोडिली। उपशमाची ॥ २५२॥
इहीं संतोषवन खांडिलें। धैर्यदुर्ग पाडिले। आनंदरोप सांडिले। उपडूनियां ॥ २५३॥
इहीं बोधाचीं रोपें लुंचिलीं। सुखाची लिपी पुसिली। जिव्हारीं आगी सूदली। तापत्रयाची ॥ २५४॥
हे आंगा तंव घडले। जीवींची आथी जडले। परी नातुडती गिंवसिले। ब्रह्मादिकां ॥ २५५॥
हे चैतन्याचे शेजारीं। वसती ज्ञानाच्या एका हारीं। म्हणौनि प्रवर्तले महामारी। सांवरती ना ॥ २५६॥
हे जळेंविण बुडविती। आगीवीण जाळिती। न बोलतां कवळिती। प्राणियांतें ॥ २५७॥
हे शस्त्रेंविण साधिती। दोरेंविण बांधिती। ज्ञानियासी तरी वधिती। पैज घेउनि ॥ २५८॥
हे चिखलेंवीण रोवितीं। पाशिकेंवीण गोंविती। हे कवणाजोगें न होती। आंतौटपणें ॥ २५९॥

धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८॥

जैसी चंदनाची मुळी। गिंवसोनि घेपे व्याळीं। नातरी उल्बाची खोळी। गर्भस्थासी ॥ २६०॥
कां प्रभावीण भानु। धूमेवीण हुताशनु। जैसा दर्पण मळहीनु। कहींच नसे ॥ २६१॥
तैसें इहींवीण एकलें। आम्हीं ज्ञान नाहीं देखिलें। जैसें कोंडेनि पां गुंतलें। बीज निपजे ॥ २६२॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९॥

तैसें ज्ञान तरी शुद्ध। परी इहीं असे प्ररुद्ध। म्हणौनि तें अगाध। होऊनि ठेले ॥ २६३॥
आधीं यांतें जिणावें। मग तें ज्ञान पावावें। तंव पराभवो न संभवे। रागद्वेषां ॥ २६४॥
यांतें साधावयालागीं। जें बळ आणिजे आंगीं। तें इंधनें जैसीं आगी। सावावो होय ॥ २६५॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४०॥

तैसे उपाय कीजती जे जे। ते ते यांसीचि होती विरजे। म्हणौनि हटियांतें जिणिजे। इहींचि जगीं ॥ २६६॥
ऐसियांही सांकडां बोला। एक उपायो आहे भला। तो करितां जरी आंगवला। तरी सांगेन तुज ॥ २६७॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१॥

यांचा पहिला कुरुठा इंद्रियें। एथूनि प्रवृत्ति कर्मातें विये। आधीं निर्दळुनि घाली तियें। सर्वथैव ॥ २६८॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२॥

मग मनाची धांव पारुषेल। आणि बुद्धीची सोडवण होईल। इतुकेन थारा मोडेल। या पापियांचा ॥ २६९॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगोनाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३अ ॥

हे अंतरींहूनि जरी फिटले। तरी निभ्रांत जाण निवटले। जैसें रश्मिवीण उरलें। मृगजळ नाहीं ॥ २७०॥
तैसे रागद्वेष जरी निमाले। तरी ब्रह्मींचें स्वराज्य आलें। मग तो भोगी सुख आपुलें। आपणचि ॥ २७१॥
ते गुरुशिष्याचि गोठी। पदपिंडाची गांठी। तेथ स्थिर राहोनि नुठी। कवणे काळीं ॥ २७२॥
ऐसें सकळ सिद्धांचा रावो। देवी लक्ष्मीयेचा नाहो। राया ऐकें देवदेवो। बोलता जाहला ॥ २७३॥
आतां पुनरपि तो अनंतु। आद्य एकी मातु। सांगैल तेथ पंडुसुतु। प्रश्नु करील ॥ २७४॥
तया बोलाचा हन पाडु। कीं रसवृत्तीचा निवाडु। येणें श्रोतयां होईल सुरवाडु। श्रवणसुखाचा ॥ २७५॥
ज्ञानदेवो म्हणे निवृत्तीचा। चांग उठावा करूनि उन्मेषाचा। मग संवादु श्रीहरिपार्थाचा। भोगावा बापा ॥ २७६॥
इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥

Encoded and proofread by
Chhaya Deo, Sharad Deo, and Vishwas Bhide.
Assisted by
Sunder Hattangadi, Joshi, and Shree Devi Kumar.

Please send corrections to sanskrit@cheerful.com

Last updated November 23, 2008